सामाजिक परिवर्तन में दलित साहित्य की भूमिका

डॉ. संध्या सिलावट,
उपायुक्त, राज्य कर,
इन्दौर, मध्य प्रदेश, भारत

तीन हजार वर्षों से निरंतर अपमानित, आहत होते हुए प्रत्येक दलित का हृदय भर चुका है। वह कुंठा ग्रस्त है। सामाजिक अन्याय और छुआछूत को झेलते-झेलते उसे अपने मनुष्य होने पर भी शर्म आने लगती है। वह सोचता है कि मैं मनुष्य ही क्यों हुआ? ऐसी ही अनुभूतियाँ बाबा साहेब आंबेडकर के मन में उठीं। अपमान, पीड़ा और सामाजिक अन्याय को झेलते हुए उनका मन इतना द्रवित हुआ कि उन्हें निम्न पंक्तियाँ रचने के लिए बाध्य कर दिया।

"गरीब होना बुरा है पर इतना नहीं जितना कि अछूत होना, गरीब स्वाभिमानी हो सकता है किन्तु अछूत नहीं हो सकता। निम्न होना बुरा है पर इतना नहीं जितना कि अछूत होना। निम्न व्यक्ति ऊपर उठ सकता है, किन्तु अछूत नहीं उठ सकता।" (बाबा साहेब भीमराव आम्बेडकर)

सामाजिक न्याय की प्रक्रिया में दलितों को जितना न्याय मिल पाया वह सब बाबा साहेब के बिना संभव नहीं हो पाता। क्या कारण है कि सवर्ण हिन्दुओं का आदर सम्मान तो उन्हें मिलना दूर की बात है पर उन्हें उतनी सहानुभूमि भी नहीं मिली कि वह सवर्ण समाज में स्वीकृत हो पाते। बाबा साहब को जितना सम्मान दलितों ने दिया, सवर्ण हिन्दुओं ने नहीं।

मनुवादी वर्ण और जाति व्यवस्था ने छुआछूत को फैलाकर एक बड़े समुदाय को उसके नैसर्गिक और मौलिक अधिकारों से वंचित रखा। इस घुटन भरी, बहिष्कृत और शोषित समाज संरचना में दलित समुदाय अपनी स्थिति पर दुःख और करुणा ही अनुभव करता है। वह उस राष्ट्र, संस्कृति और इतिहास पर कैसे गर्व कर सकता है, जिसने पशुओं से भी बदतर व्यवहार किया है। इसलिए दलित ही राष्ट्र के इतिहास, धर्म, ईश्वर, समाज, संस्कृति और परम्परा के 'फ्रेम ऑफ रिफरेन्सज' को सही कर सकता है व सदियों की इस पीड़ा व इतिहास को बदल सकता है। वही हिन्दू वर्ण व्यवस्था द्वारा प्रदत्त सदियों की यातना और शोषण का इतिहास भी लिख सकता है, सामाजिक समानता व सामाजिक न्याय संघर्षों के मध्य अपना अस्तित्व रच सकता है यथा स्थितिवाद को बदल सकता है, धर्म, ईश्वर, इतिहास, संस्कृति और राष्ट्र को पुनर्परिभाषित कर सकता है। हिन्दू वर्ण व्यवस्था द्वारा परिकल्पिक मनुष्य की अवधारणा से 'इतर' संपूर्ण मनुष्य की कल्पना कर सकता है।

इसके लिए उसे अपने साहित्य में स्थान बनाना होगा। हिन्दी साहित्य में दलित साहित्य का कोई आंदोलन नहीं हो सका। जिससे दलित साहित्य को अपनी एक निश्चित पहचान मिल पाती। नवजागरण के समय हिन्दी में कई साहित्यिक आंदोलन चले। स्वतंत्रता पूर्व दलित चेतना पर, अदलितों द्वारा रचित बहुत सी रचनायें प्रकाश में आईं, धीरे-धीरे इनका विकास स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी होता रहा।

हिन्दी में दलित लेखन की विधिवत् शुरुआत आठवें दशक से हुई। प्रेमचंद, निराला, राहुल सांकृत्यायन के बाद भी अनेक अदलित लेखकों ने दलित चेतना पर लिखा। प्रश्न यही उठता है कि क्या अदलितों द्वारा रचित साहित्य को दलित साहित्य कहा जा सकता है? मुख्य प्रश्न है कि ये गैर दलित लेखक अपनी रचनाओं को क्या दलित साहित्य कहलवाना पसंद करेंगे? उनकी कृतियों में दलितों के दुःख-दर्द व यातना से स्वतंत्र होने के लिए कोई बिन्दु मात्र आशा भी नहीं दिखाई गई है, न ही इस ओर उन्हें प्रेरित होते दिखाया गया है बल्कि दलितों की यातना और पीड़ा का ही वर्णन किया गया है, जिससे शोषित समाज का एक खाका लोगों के दिमाग में बना है। उन्हें भी दलितों की समस्याओं की ओर परोक्ष रूप से ही सही, प्रेरित तो किया ही है। रांगेय राघव का 'मुर्दों का टीला' 1948, फणीश्वर नाथ रेणु की 'मैला आंचल' 1954, 'परती-परीकथा-1961, पाण्डेय बेचेन शर्मा 'उग्र' की 'बुधुआ की बेटी' 1964, मन्नू भंडारी का 'महाभोज' 1979, शैलेश मटियानी की 'गोपनी गफूरन', बाबा नागार्जुन का 'बलचनमा' 1989 तथा हरिसुमन विष्ट का 'आसमान झुक रहा है'- आदि मुख्य हैं। इन रचनाओं से दलित चेतना को विस्तृत आधार मिला, पृष्ठभूमि भी तैयार हुई, जिस पर दलितों द्वारा रचित दलित साहित्य सहानुभूति व करुणा की लीक से हटकर अपने लिए सदृढ़ व न्यायपूर्ण मार्ग रच सकता है, जिसमें करुणा व सहानुभूति की नहीं अपितु शोषण व यातना से मुक्ति के आंदोलन की चेतना होगी।

यह कैसी विडम्बना है कि जब तक दलित समाज हमारी सहानुभूति और हमदर्दी के दायरे में होता है तब तक वह हमारी दृष्टि में ठीक रहता है, लेकिन ज्यों ही वह अपने अधिकारों की माँग करता है, हमारे लिए घृणा व हिंसा का विषय बन जाता है। आज भी हमारा समाज अंतर्विरोधी प्रवृत्तियों से लड़ रहा है, आज दलित समाज के लोग जिस मार्मिकता के साथ अपनी अनुभूतियाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, उसे गलत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हक की बात तो यही है कि आदमी अपनी बात स्वयं कहे। जब पीड़ित अपनी बात कहता है तो उसकी बात में गैर पीड़ित की अपेक्षा अधिक दम होता है, चाहे गैर पीड़ित का वर्णन कितना भी सहानुभूतिपूर्ण क्यों न हो, पीड़ित वाली बात उसमें नहीं हो सकती ।

राजेन्द्र यादव के शब्दों में अमृतलाल नागर का लेखन हो या गिरिराज किशोर का, इन सबने गंभीरता के साथ दलित साहित्य में योगदान किया है, परंतु प्रस्तुति में कहीं न कहीं फर्क है ही व कमी भी है। दलित लेखक ऐसा मानते हैं कि दलित लेखक जीवन को सच्चाई के साथ उभार पायेंगे।

राजेन्द्र यादव के विचारानुसार दलित साहित्य का स्वरूप अभी हिन्दी साहित्य में नहीं बन पाया है। मराठी साहित्य की परिपक्वता अभी उसमें नहीं है। फिर दलित साहित्य को हिन्दी साहित्य में लाया ही क्यों जाए? इसके कई कारण हो सकते हैं- एक तो हम मानें कि मराठी का दलित साहित्य व तेलुगू का दलित साहित्य उनकी मुख्यधारा बन चुका है जबकि बंगला व अंग्रेजी में मध्यमवर्गीय धारा ही प्रचलित है। दलित साहित्य हिन्दी साहित्य की जरूरत था या स्वयं अपनी, यह भी विचारणीय प्रश्न है। दलित साहित्य हिन्दी साहित्य की आवश्यकता है या मजबूरी। कहीं ऐसा तो नहीं कि सवर्णों के मन में अपराध बोध हो, आत्मग्लानि से प्रेरित हो, पश्चाताप हेतु अपनी उदारता का परिचय दिया और दलितों को हिन्दी साहित्य में प्रवेश की अनुमति दी या फिर जैसे विश्व साहित्य अफ्रीकी, नीग्रो और लातिनी अमेरिकी साहित्य से समृद्ध हो रहा है वैसे ही प्रेरित हो सवर्ण हिन्दी साहित्य के लिए ऐसा कुछ करना चाहते हो? एक प्रश्न यह भी उठता है कि हिन्दी साहित्य में दलित साहित्य की आवश्यकता ही क्या है? जब सैकड़ों वर्षों तक दलित साहित्य के बिना काम चल गया तो अब क्यों ध्यान दें?

कला, सौंदर्य - विहीन, बदबूदार साहित्य को अपने बीच जगह दें निरंतर इस आरोप का सामना करें कि हमने ही उनकी यह हालत की है और अपनी इस बनाई तस्वीर को देखने में 'हमारी नानी मरती' है। क्या हम कह सकते हैं कि (निर्मल वर्मा व अशोक वाजपेयी की तरह) वह हमारे जनतंत्र का हिस्सा नहीं हैं परंतु एक वास्तविकता और है, अब राजनैतिक क्षेत्र में दलितों का दखल बढ़ चला है। अब राजनैतिक क्षेत्र में वह सत्ता समीकरण तय कर रहे हैं उत्तर प्रदेश इसका अच्छा उदाहरण है। सरकारी सेवाओं में भी ऐसा हो रहा है, लगातार अपना वर्चस्व वनाए रखने वाले लोग भी अब उन्हें झख मारकर, चाहे ऊपरी मन से हो रहे सम्मान व बराबरी का दर्जा दे रहे हैं। समाज में एकाएक जैसे उनसे खतरा बढ़ गया हो। पूरा सवर्ण समाज उनसे अपनी आत्मरक्षा में लीन है। साहित्य में उन्हें अभीष्ट स्थान नहीं मिला है, सवर्ण चाहे कितना भी ढोंग करें कि रैदास, कबीर, हीरा डोम को वे मान देते रहे हैं या प्रेमचंद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', राहुल सांकृत्यायन आदि सभी दलित चेतना के पक्षधर तो दलितों के ही हैं परंतु सत्यता इससे भिन्न है। मराठी साहित्य में पहले दलितों में साहित्यिक चेतना आई। बाद में राजनैतिक शक्ति के रूप में उभरे परंतु हिन्दी साहित्य क्षेत्र में पहले वह राजनैतिक शक्ति बन कर उभर रहे हैं, धीरे-धीरे उनकी सामाजिक चेतना साहित्य की ओर बढ़ रही है। इसलिए हिन्दी साहित्य में दलित साहित्य अभी प्रारंभिक अवस्था में ही है।

हिन्दी क्षेत्र में दलित चेतना का प्रवास कुंद न हो, उसका क्रांतिकारी तेवर भ्रष्ट न हो, विषमता विहीन समतापूर्ण समाज का उसका लक्ष्य निरंतर बना रहे, इसे देखना दलित लेखकों का प्राथमिक दायित्व है। जैसे-जैसे उत्तर भारत की 'दलित चेतना' राजनैतिक शक्ति में बदलनी शुरू हुई वैसे-वैसे इसे अंदर और बाहर से राहच्युत व भ्रष्ट करने के प्रयास तेज हुए हैं। दलित चेतना के प्रवाह में सारी बुराइयाँ दिखने लगती हैं जिनसे गैर दलित ताकतों के रंग रेशे तैयार हुए हैं। जब दलित ताकतें अपने तात्कालिक लाभ के लिए दूसरी बड़ी दलित विरोधी ताकतों से समझौता करने लगती हैं तो इससे दलित लक्ष्य का ही क्षय होता है।

दलितों में सामाजिक परिवर्तन करने की पर्याप्त चेतना व आधार है। उनकी दलित चेतना में आक्रामकता व पैनापन है, जो साहित्य व समाज दोनों में स्पष्ट दिखाई देने लगा है। अब दलितों को अपने प्रयासों से अपनी चेतना को समाज की केन्द्रीय धारा बनाना ही उद्देश्य होना चाहिये। इसे परिणाम तक पहुंचाने के लिए दलित चेतना को सावधानी से काम करना होगा, इसे नफरतकारी मूल्यों व समाज को विभाजित करने वाले मूल्यों से स्वयं को बचाकर चलना होगा। इसे समाज के लिए सड़ चुके मूल्यों से एकतरफा हो, पूरे समाज को अपने साथ लेकर चलने की पूर्णतया तत्परता करनी होगी। विगत कुछ वर्षों में यह देखने में आया है कि स्वयं दलित व नवधनाढ्य अधिकारी और राजनेता सवर्णों के समान अपने दलित समाज से व्यवहार करते दिखाई दे जाते हैं। कभी-कभी तो दलित बुद्धिजीवी भी सवर्ण मूल्यों के अनुसार व्यवहार करते नज़र आते हैं। इसलिए हमें अपनी आत्मा से ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि दलितों में से ही कहीं सवर्णों जैसे दलित न पैदा हो जायें जो फिर सवर्णों के पक्षधर बन जायें।

दलित लेखक, दलित साहित्य की व्याख्या करते समय 'साहित्य के भाव' के रूप में 'साहित्य की चर्चा' करते हैं। इस अर्थ में दलित साहित्य सब दलित जातियों, वर्गों, पिछड़े लोगों को जोड़ने वाला, सहित भाव के अनुसार सबको साथ लेकर चलने वाला बताया जाता है। परंतु इतनी अच्छी मान्यता के बावजूद भी सवर्ण वर्गों को विशेषतः ब्राह्मणों को इस संयुक्त मोर्चे से अलग रखा जाता है। उनके प्रति घृणा का प्रचार किया जाता है। सच्चे व महान साहित्य को घृणा का प्रचार नहीं करना चाहिये। उसे अनुपयोगी जीवन मूल्यों का विरोध करना होगा, समाज के कुछ वर्गों के प्रति घृणा व विद्वेष का प्रचार नहीं करना होगा। वह सच्चा साहित्य

है इसलिए उसे सबको जोड़ने का काम ही करना होगा। राजनैतिक जरूरतों को पूरा करने के लिए साहित्य को साधन नहीं बनाया जा सकता और न ही राजनैतिक तरीकों से अच्छा साहित्य विकास कर सकता है। साहित्य के लिए गंभीर चिंतन की आवश्यकता होती है। क्षणिक आवेश घृणा व राजनीतिक प्रचार किसी भी साहित्य को उच्चकोटि का नहीं बना सकते।

यदि दलित साहित्य को घृणा का प्रचारक साहित्य नहीं बनना है तो उसे साहित्य के गंभीर प्रश्नों से टकराना होगा। किसी विचारधारा के सन्निवेश मात्र से कोई साहित्य प्रचारात्मक साहित्य की संज्ञा नहीं पाता बल्कि साहित्यिक गुणवत्ता के अभाव में वह किसी विचारधारा का भोंपू अथवा प्रचार साहित्य बन जाता है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि अच्छी से अच्छी विचारधारा भी अपने आप में साहित्य नहीं होती। मराठी में दलित साहित्य की तरह उसे भी हिन्दी साहित्य का अभिन्न अंग बनना होगा।

दलित लेखकों और विचारकों के सामने सवर्ण लेखकों की तुलना में अधिक प्रश्न मुंह बाये खड़े हैं। सर्वप्रथम प्रश्न तो यह है कि दलित जातियों की स्वयं की जातीय चेतना किस स्तर पर कार्य कर रही है? परस्पर निहित भेदभाव व जातीय मूल्य कितने परिवर्तित हुए हैं? दलित जातियाँ आपस में किस प्रकार का व्यवहार कर रही हैं और उनकी सामाजिक व पारिवारिक सोच किस दिशा की ओर उन्मुख है? समाज और परिवार तथा परिवार और व्यक्ति में कैसा संबंध है? क्या वह भी सवर्ण समाज का अनुकरण ही कर रहे हैं? दलित लेखक को विद्रोही व आक्रामक साहित्य के साथ-साथ अपनी संरचनात्मक सृजनशीलता पर भी गंभीरतापूर्वक विचार करना होगा। उसकी सोच ही अपने वाले समय की दिशा तय करेगी। दलित लेखक को भी उन सभी समस्याओं से जूझना है जिससे एक सवर्ण लेखक जूझता है जैसे लोकतांत्रिक व्यवस्था से उत्पन्न भ्रष्टाचार, राजनैतिक भ्रष्टाचार, आर्थिक भ्रष्टाचार, समसामयिक समस्यायें एवं सामाजिक समस्यायें। इसके अलावा उसे स्वयं की लड़ाई भी लड़नी है।

इस प्रकार दलित लेखन की जिम्मेदारी किसी भी अन्य प्रकार के लेखन की तुलना में अधिक बड़ी है। दलित चेतना की गंगा को अंततः आर्थिक-सामाजिक शोषण विहीन समाज के समुद्र में तब्दील होना है, इसलिए दलित लेखन की प्राथमिक जिम्मेदारी उस निगहबान की भूमिका है जो यह देखे कि वह गंगा न अंदर से प्रदूषित हो न बाहर से।

उसे अपनी भाषा को साहित्यिक भाषा के स्तर पर पहुंचाना होगा । अपने विचारों को दलित चेतना के साथ-साथ देशभक्ति और सामाजिक समस्याओं से जोड़कर एक सर्वव्यापी आयाम देना होगा। उसे अपने वैचारिक स्तर को दर्शन की ऊंचाइयों तक पहुंचाना होगा क्योंकि रुदन, आह, विरोध का वर्णन मात्रा किसी साहित्यिक रचना को जीवित नहीं रख सकता है। उसे रचनाकार के साथ-साथ नये समाज-सृष्टा की भूमिका भी निभानी है जिसमें प्रत्येक के साथ न्याय हो । ऐसा दुष्कर कार्य उसे करना है। इसलिए दलित लेखक दोहरे उत्तरदायित्व से दबा है और अपने लेखन व चेतना की तलवार से वह यह काम सहजता से कर लेगा।